AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

सामाजिक आन्दोलन के बदलते आयाम और बिहार

ORIGINAL ARTICLE

Author
डॉ. जितेन्द्र कुमार
मोलयिार टोला, वार्ड नं. 12
मोकामा
पटना, बिहार, भारत

शोध सार

भारत में सामाजिक संरचना के उदय काल से ही सामाजिक आन्दोलनों का सिलसिला भी अपने ढंग से जारी रहा है। चूंकि यह समझा जाता रहा है कि भारतीय समाज को धर्म से अलग नहीं जा सकता, खासकर प्राचीन और मध्यकाल में, अतः 19वीं सदी तक सामाजिक परिवर्तन या गतिशीलता पर केन्द्रित सभी आन्दोलनों को सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन की वृहत्तर परिधि के अन्तर्गत ही माना जाता रहा है। चाहे वह छठी सदी ई. पू. का आन्दोलन हो या प्राचीन तथा मध्यकालीन भक्ति आन्दोलनों की विभिन्न धाराएँ अथवा भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं का विकास या फिर 19वीं सदी का पुनरूत्थानवादी आन्दोलन–सभी अनिवार्यतः धार्मिक आस्था–विश्वासों तथा परम्पराओं–विचारों से गहरे तौर पर सम्बद्ध रहे हैं, परन्तु 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से सामाजिक आन्दोलनों की प्रकृति में बदलाव भी दिखाई पड़ने लगा। इसी अवधि में लौकिकीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण, शहरीकरण, औद्योगिकरण और आधुनिक राज्य व्यवस्था निर्माण, नए अवसरों की सृष्टि तथा बुद्धिवाद ने सामाजिक जीवन को उद्वेलित करना शुरू किया।

मुख्य शब्द

सामाजिक आंदोलन, राष्ट्रवाद समरसता, वर्ण व्यवस्था, अभिजन वर्ग साम्प्रदायिक, पुनरूत्थानवादी, सत्याग्रह.

भूमिका

राष्ट्रवाद के उद्भव और विकास ने भी सामाजिक जीवन को काफी हद तक आन्दोलित किया। फलतः जाति विरोधी आन्दोलन, पिछड़ी जाति आन्दोलन, जातिय सुधार आन्दोलन, दलित आन्दोलन तथा नारी मुक्ति आन्दोलन आदि ऐसे सामाजिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें धार्मिक बन्धन काफी शिथिल होते दिखाई पड़े। 20वीं सदी में सामाजिक आन्दोलन की कई धाराओं का राजनीतिकरण भी काफी हद तक हुआ। जातिय आन्दोलनों के गर्भ से जातिवादी तनाव का जहर पैदा हुआ, जिसने सामाजिक ताने–बाने को छिन्न–भिन्न किया और सामाजिक तनाव एवं पारस्परिक घृणा ने सामाजिक समरसता के राष्ट्रीय आदर्श को तार–तार कर दिया तो समाज सुधार एवं शिक्षा के प्रसार पर केन्द्रित हिन्दू पुनरूत्थानवादी और अलीगढ़ आन्दोलन ने भारत में ऐसे साम्प्रदायिक राजनीत्ति को उत्प्रेरित किया जो भारत का विभाजन हो जाने के बाद भी थमने का नाम नहीं ले रहा है। आधुनिक बिहार ने सामाजिक आन्दोलनों के इस बदलते रूपों को विश्लेषित करने का प्रयास प्रस्तुत आलेख में किया गया है।

बिहार का पारम्परिक समाज अनेक प्रकार की रूढ़ियों अंधविश्वासों, कुरीतियों, पाखण्डों और आडम्बरों से ग्रसित रहा है तथा इन्हें धर्म एवं परंपराओं के हथियार का संरक्षण भी हासिल रहा है। सामाजिक संरचना सोपानयुक्त

जाति प्रथा पर आधारित रही है और इसे भी प्राची तथा मध्य काल में धर्म एवं सत्ता का समर्थन प्राप्त था।[1] अतः न तो सामाजिक संरचना में और न ही सामाजिक व्यवहार में कोई बदलाव आ सकता था। हालाकि छठी सदी ई.पू. की सामाजिक–धार्मिक क्रान्ति और फिर पूर्व मध्यकाल से जारी भक्ति आन्दोलन की विभिन्न धाराएँ अपने अलग उद्देश्य के कारण भारतीय समाज में जब–तब हलचल पैदा करती रही है। ऐतिहासिक युग में भारतीय समाज गतिशील बना रहा है और इसमें यदा–कदा परिवर्तन भी होते रहे हैं, किन्तु समाज का बुनियादी ढाँचा कमोवेश एक सा दिखलाई पड़ता रहा है, जो कठोर वर्णव्यवस्था द्वारा सदैव निर्धारित होती रही है।[2] सामाजिक स्तर में बदलाव वर्ण के अन्तर्गत जातियों अथवा उपजातियों के तो होते रहे, लेकिन सामाजिक संरचना का वास्तविक नियामक सदैव वर्णव्यवस्था ही बना रहा है। हालॉकि सत्ता अर्थात् राजसत्ता एव अर्थसत्ता की प्राप्ति के मार्ग में वर्ण अथवा जाति कभी बाधक नहीं रही है और अर्थवान एवं राजसत्तावान को सदैव सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिलती रही है, भले ही वह सामाजिक पद सोपान में निम्न स्तर पर विद्यमान जातिय समूह का ही क्यों न हो, किन्तु इसे लोग सीधा देखना नहीं चाहते थे, क्योंकि सामाजिक हैसियत में वृद्धि व्यक्तिगत पारिवारिक या स्थानीय स्तर पर ही होती थी। जाहिर है कि प्राचीन और मध्यकाल में सामाजिक आन्दोलन के दायरे सीमित थे और यही कारण है कि सामाजिक बदलाव की गति अत्यन्त ही धीमी थी।[3]

अंग्रेजों ने भारत में एक आधुनिक राज्य की स्थापना की और शासन सेवा रोजगार तथा उद्यम के क्षेत्र में नए अवसर पैदा किए जो अबतक भारतीयों के लिए अनजान थे। इन क्षेत्रों में प्रवेश पूर्व में वर्ण एवं जाति व्यवस्था के मार्ग से गुजरती थी। अब नए अवसरों को हासिल करने के लिए आधुनिक शिक्षा की जरूरत थी। नए अवसरों का लाभ उठाने के लिए अब कोई जातिय या धार्मिक बधन नहीं रहा लेकिन ब्रिटिश शासन के शुरूआती दौर में आधुनिक शिक्षा और नए अवसरों पर पारम्परिक तौर से अगुआ जातियों के लोगों ने वर्चस्व कायम कर लिया।[4] इन नवोदित अभिजन वर्ग को जिसे मध्यम वर्ग कहा गया, सामाजिक आधार की आवश्यकता थी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत में अपने सामाजिक आधार बनाने के लिए ईसाईकरण का मुहिम चलाया। भारत के नवोदित मध्यम वर्ग ने भी सामाजिक–धार्मिक पाखण्डों का विरोध किया लेकिन भारतीय अभिजन वर्ग में अन्तर्विरोध था और वह यह कि इसमें सिर्फ ऊँची जातियों के ही लोग नहीं थे, बल्कि शासन, सेवा तथा आधुनिक व्यवसायों एवं रोजगार में समान अवसर उपलब्ध होने के कारण सामाजिक पद सोपान में पिछडी एवं निम्न जातियों के लोग भी थे। चूँकि अवसर सीमित थे, अतः अभिजन वर्ग के भिन्न–भिन्न जातिय समूहों के बीच नवीन अवसरों का लाभ उठाने के लिए भीषण प्रतिस्पर्धा भी थी।[5] यह प्रतिस्पर्द्धा जातिय ही नहीं अपितु धार्मिक स्तर पर भी थी।[6] परिणामतः एक ओर जहाँ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक–धार्मिक पुनरूत्थानवादी आन्दोलन चले, वहीं अभिजात वर्ग के घटक भिन्न–भिन्न जातिय एवं पंथिक समूहों ने जातिय एवं साम्प्रदायिक आन्दोलन का पथ प्रशस्त किया। स्थानीय निकायों और व्यवस्थापिका सभा के चुनावों में जातिय साम्प्रदायिक आन्दोलनों को हवा दी।[7]

इस प्रकार आजादी के पहले सामाजिक आन्दोलनों की मुख्यतः दो धाराएँ थी पहली मुख्य धारा वह थी, जो सुधार आन्दोलन से प्रारंभ होकर सामाजिक–धार्मिक पुनरूत्थानवाद के मार्ग से गुजरते हुए राष्ट्रवादी सामाजिक आन्दोलन के मुकाम पर पहुँची। सामाजिक आन्दोलनों की दूसरी धारा जातिय एवं साम्प्रदायिक चेतना से अनुप्राणित थी। जातिय आन्दोलनों ने तो कभी राष्ट्रवादी आन्दोलन का अतिक्रमण नहीं किया, बल्कि ये उसके पूरक ही थे, जबकि साम्प्रदायिक सामाजिक आन्दोलनों ने हमेशा समाज को तोड़ने की भरसक चेष्टा की, चाहे वह हिन्दुत्ववादी या मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादी आन्दोलन क्यों न हो।[8] औपनिवेशिक काल के सामाजिक आन्दोलनों का एक दिलचस्प पहलू यह है कि सामाजिक चेतना में व्याप्त भारी अन्तर्विरोधों के बावजूद राष्ट्रीय चेतना भारत के प्रायः सभी जातिय, वर्गीय एवं धार्मिक समूहों से उर्जा प्राप्त करती रही।

सामाजिक–धार्मिक पुनरूत्थानवादी आन्दोलनों और बाद में गाँधीवादी रचनात्मक आन्दोलन को छोड़कर औपनिवेशिक काल में अखिल भारतीय स्तर पर कोई एक सामाजिक आन्दोलन नहीं हुआ। अम्बेडकरवादी दलित आन्दोलन का भी स्वरूप अखिल भारतीय नहीं था लेकिन भारत के अलग–अलग प्रान्तों और सांस्कृतिक इकाई वाले क्षेत्रों में इस अवधि में अनेक सामाजिक आन्दोलन हुए, जिनमें सर्वाधिक प्रखर जातिय आन्दोलन था। क्षेत्रीय

विशिष्टताओं से युक्त जातिय आन्दोलन भारत के प्रायः सभी भागों में हुआ, जिसमें यदि सामाजिक पद सोपान की ऊँची जातियों अपने रूतबे को बरकरार रखने की लिए सचेष्ट थी तो नीचे के सोपानों पर अवस्थित जातियाँ सदैव ऊँची जातियों की बराबरी करने के लिए कृतसंकल्प थी।[9]

हालॉकि सत्ता केन्द्र से दूर होने के कारण बिहार में आधुनिक प्रवृत्तियों से युक्त सामाजिक आन्दोलन कुछ देर से प्रारंभ हुए, किन्तु 19वीं सदी के अन्त तक आते–आते कई सामाजिक आन्दोलनों की सुगबुगाहट शुरू हो चुकी थी, कई आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। यही कारण है कि 20वीं सदी के प्रारंभ के साथ बिहार में सामाजिक आन्दोलन ने शहरी अभिजनवर्ग को उद्वेलित करना शुरू कर दिया, वहीं दूसरी ओर भारी तादाद में जातिय सभाएँ और समाज जाति सुधार आन्दोलन की लहरें पैदा करने लगीं।[10]

सामाजिक–धार्मिक पुनरूत्थानवादी आन्दोलनों में बिहार में हालांकि ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी आदि सबों ने दस्तक दिया, लेकिन सर्वाधिक लोकप्रिय आर्य समाज हुआ। संगठित आन्दोलन के रूप में आर्य समाज ने 1904 में अपनी सशक्त उपस्थित दर्ज की जब बंगाल–बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गई। इनके कार्यकलापों में धर्म प्रचार, शास्त्रार्थ, समाजसेवा, शिक्षण संस्थानों की स्थापना, साहित्य प्रकाशन, अछूतोद्धार आदि के अलावे जाति प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध छुआछूत, मूर्ति पूजा, धार्मिक कर्मकाण्डों आदि सभी प्रकार के प्रचलित कुप्रथाओं, रीति–रिवाजों का भी सूत्रपात किया, जो बाद में जातिय आन्दोलनों का एक प्रमुख मुद्दा बन गया। आर्य समाज ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भारी योगदान दिया। आर्य समाज आन्दोलन को बिहार में मध्यवर्ती पिछड़ी जातियों को आकर्षित करने में काफी सफलता मिली और 1921 की जनगणना के अनुसार इसमें ग्वाला, कुर्मी, कोइरी, बढई दुसाध, कहार, आदि की काफी संख्या थी। बिहार के कबीरपंथी अच्छी तादाद में आर्य समाज से जुड़े। जाहिर है कि आर्य समाज आन्दोलन का बिहार में यथेष्ट विस्तार हुआ।[11]

बिहार में सबसे अधिक सक्रिय जातिय सभाएँ या समाज थी। ब्राह्मणों, कायस्थों और भूमिहार ब्राह्मणों जैसे ऊँची जातियों की ही नहीं अपितु यादवों, कुर्मियों, कोईरियों, दुसाधों, तेलियों, नाइयों, चमारों, कुम्हारों, बनियों, बिन्दों तथा महुरियों आदि के जातिय समाज काफी गतिशील थे। बिहार में बंगाली वर्चस्व के खिलाफ आन्दोलन की बागडोर कायस्थों और अशरफ मुसलमानों ने सम्हाली थी। बिहार में कायस्थ महासभा सबसे अधिक सक्रिय थी। स्वामी सहजानन्द ने भूमिहार ब्राह्मणों को संगठित किया। भूमिहार ब्राह्मण सभा काफी प्रभावशाली थी। भू–स्वामी जाति होने के कारण बिहार के कई रियासतों का संरक्षण इसे हासिल था। मध्यवर्गीय जातियों की सभाओं ने अपनी–अपनी जातियों में प्रचलित कुप्रथाओं के अन्त, आधुनिक शिक्षा के प्रसार और ऊँची जातियों के साथ बराबरी के लिए अनथक प्रयास किए। इनमें बिहार के कुर्मी, कोइरी और यादव सबसे आगे थे। इनकी सभाओं द्वारा अपनी–अपनी जाति को क्षत्रिय घोषित करने, जनेऊ करने, ऊँची जातियों का जुल्म न सहने और बेगारी न करने की अपील की जाती थी। जनगणना के अवसर पर अपनी जाति के आगे क्षत्रिय लिखने की अपील सरकार से की जाती थी।[12]

क्षत्रिय होने का दावा तो कई दलित जाति की सभाओं द्वारा भी की जाती थी। वस्तुत प्रायः सभी मध्यमवर्ती और दलित जातियों की सभाओं ने अपनी–अपनी जाति का इतिहास प्रकाशित करवाया। अपने को किसी न किसी प्राचीन ऋषि या आचार्य अथवा वीर क्षत्रिय राजा से जोड़ और जातिय स्वाभिमान के विकास के लिए इस तरह जाति का आध्यात्मीकरण किया। उदाहरणस्वरूप परशुराम द्वारा क्षत्रियों के जनसंहार से बचे क्षत्रियों से दुसाध जाति अपनी उत्पत्ति मानते थे, तो चमार राम– अवतार काल के किसी बहिष्कृत ब्राह्मण से अपने को जोड़ते थे और अपने को रैदास कहते थे। जातिय आन्दोलनों का जोर बिहार में 20वीं सदी के तीसरे दशक तक लगातार बढ़ता रहा। जनेऊ आन्दोलन और त्रिवेणी संघ आन्दोलन जातिय आन्दोलनों की प्रखरतम अभिव्यक्तियाँ थी।[13]

बिहार में स्थानीय निकायों तथा व्यवस्थापिका सभा के अधिकाधिक प्रतिनिधिमूलक बनते जाने के साथ–साथ चुनाव की राजनीति भी लगातार होती गई। इसी के साथ जातिय आन्दोलन का राजनीतिकरण होता गया। वस्तुतः बिहार में जाति आन्दोलन जातिय सुधार से प्रारंभ होकर प्रतिस्पर्द्धा जातिय चेतना में रूपान्तरित हो गया और 1952

के प्रथम आम चुनाव तक आते–आते सम्पूर्ण बिहार भयंकर जातिवाद के गिरफ्त में फँस चुका था। आज बिहार में हर चीज को जातिय चश्मे से ही देखने का प्रायः जो आम चलन हो गया है, वह जातिय आन्दोलन के गर्भ से पैदा हुआ हैं।[14]

चम्पारण सत्याग्रह के साथ बिहार में गाँधीवादी सामाजिक आन्दोलन का प्रवेश हुआ। असहयोग आन्दोलन के पश्चात गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रमों का जोर बढ़ा। मद्य–निषेध, स्त्री एवं दलिताद्धार कार्यक्रम के अन्तर्गत पर्दा प्रथा, छूआछूत जैसी सामाजिक कुरीतियों का विरोध बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। गाँधी के कार्यक्रमों में सहभागिता के लिए स्त्रियों ने घर की देहरियों से बाहर कदम रखा। शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया गया। गाँधी का बुनियादी तालीम बिहार में काफी लोकप्रिय हुआ। वस्तुतः जातिय आन्दोलन की बह रही आँधी के बीच गाँधीवादी सामाजिक आन्दोलन सामाजिक समरसता का संदेश लेकर आया। अम्बेडकरवादी दलित आन्दोलन का प्रवेश भी बिहार में हुआ, किन्तु यह कितना प्रभावी हो सका, यह कहना मुश्किल है। इसकी अपेक्षा बिहार की दलित जातियों में गाँधी का रचनात्मक कार्यक्रम ही अधिक लोकप्रिय था, जिसने आदिवासी समाज को भी उद्वेलित किया था।[15] बिहार में समाजवादियों और साम्यवादियों ने भी वर्ग चेतना के विकास के लिए काफी काम किया। खासकर साम्यवादियों ने वर्ग चेतना के विकास के माध्यम से सर्वहारा क्रान्ति की सामाजिक आधारशिला तैयार करने की कोशिश की। हालांकि वे इसमें सफल नहीं हो सके, किन्तु साम्यवादी आन्दोलन का राजनीतिक चरित्र, सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा पर ही टिका हुआ था।[16]

निष्कर्ष

इस प्रकार सामाजिक आन्दोलनों ने 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में काफी हलचल पैदा की। एक तरफ जहाँ सामाजिक कुप्रथाओं पर जमकर प्रहार किए गए तो दूसरी ओर आधुनिकीकरण की पुरजोर कोशिश की गई। सामाजिक सामंजस्य और समरसता की स्थापना का प्रयास हुआ तो सामाजिक तनाव भी पैदा किए गए। निहित स्वार्थ के कारण जातिय प्रतिस्पर्द्धा को 20वीं सदी के मध्य तक आते–आते चरम पर पहुँचा दिया गया और बिहार जातिवाद से बुरी तरह ग्रस्त हो गया। 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में बिहार में सामाजिक आन्दोलन की अनेक धाराएँ थी, जिनके हित आपस में टकराते थे तो मेल भी खाते थे। जाते–जाते यह उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल से ही कोई भी आंदोलन, चाहे वह भक्ति हो या रहस्य का, निहित स्वार्थ का ही छिपा हथियार था। आधुनिक बिहार में सारे सामाजिक आंदोलनों का यदि निरपेक्ष अध्ययन किया जाए तो कुछ लोगों के निहित हितों की बनावट के धागे स्पष्ट नजर आएंगे।

संदर्भ सूची

1. श्रीनिवास, एस.एन, (2005) 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 18–20।
1. श्रीनिवास, एस.एन, (2008) *'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन',* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 18–20
2. पूर्वोक्त, पृ. 51।
3. पूर्वोक्त, पृ. 52।
4. चौधरी, प्रसन्न कुमार एवं श्रीकान्त, (2001) *'बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम',* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 29–33।
5. पूर्वोक्त, पृ. 45।
6. श्रीनिवास, एस. एन., पूर्वोक्त, पृ. 36।
7. चौधरी, प्रसन्न कुमार एवं श्रीकान्त, पूर्वोक्त, पृ. 91।

8. मिश्र, गिरीश एवं पाण्डेय, ब्रज कुमार, (2010) *'बिहार में जातिवाद',* स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 102–03।

9. श्रीनिवास, एस. एन, पूर्वोक्त, पृ. 88–89।

10. मिश्र गिरीश एवं पाण्डेय ब्रज कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 109–10।

11. Askari, Syed Hasan and Ahmad, Qeyamuddin (1976) (Edited), 'The Comprehensive History of Bihar', Vol-III, Part-III, Kashi Prasad Jayswal Research Institute, Patna, p. 20-24.

12. मिश्र, गिरीश एवं पाण्डेय, ब्रज कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 108–09।

13. चौधरी, प्रसन्न कुमार एवं श्रीकान्त, पूर्वोक्त, पृ. 112–13।

14. मिश्र, गिरीश एवं पाण्डेय, ब्रज कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 333–34।

15. चौधरी, प्रसन्न कुमार एवं श्रीकान्त, (2005) *'बिहार में दलित आंदोलन'* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 31–32।

16. पूर्वोक्त, पृ. 32।

––==00==––